



साहित्यिक विमर्श

वंदना गुप्ता की कविताएँ

ज़िन्दगी का गीत तरन्नुम में

आजकल नहीं उगते उसकी देह पर कांटे
लहुलुहान होने की आदत को
बदल लिया है भरम से

भरम ही तो रहा ता-उम्र अस्तित्व
नीली स्याही जरूरी नहीं
पर्याय बने उन नीलों के
जो तन से परे मन पर लगे

वो खुद को लहुलुहान करने का दौर था
ये खुद को भरमाने का दौर है
फर्क न तब था न अब है
सिर्फ लिखावट बदली है शब्द नहीं
गोदे जा चुके हैं जो रूह पर
उन गोदनों की स्याही कभी नहीं मिटा करती

गुलाबी नगरों में जश्न को जरूरी नहीं
बजाये जाएँ ढोल नगाड़े और ताशे
मुस्कान के फरेब काफी हैं जश्न मनाने को
फिर जुबान सिली हो या मुखरित

गुजर चुके हैं कसम खाने के दौर
क्योंकि
स्त्री की कोई कसम आखिरी नहीं होती
तिड़कती ही रहती है स्त्री रह रह

पोस्टमार्टम के दौर में

नहीं मिलेंगे सबूत उसकी रूह के विलाप के

आधुनिकता और मुखरता महज ओढ़ा हुआ लबादा है
उसका
मगर फिर भी गौर से देखना

स्त्री का जाड़ा है कि कभी खत्म होता ही नहीं
और उसे जूड़ी आते किसी ने देखी नहीं
फिर भी जाने कैसे
गुनगुना लेती है ज़िन्दगी का गीत तरन्नुम में

दुष्कर उपालंभ

जब चुक जाएँ संवेदनाएं
रुक जाएँ आहटें
और अपना ही पतन जब स्वयमेव होते देखने लगे
मान लेना
निपट चुके हो तुम

गिरजों के घंटे हों
मंदिरों की घंटियाँ
या मस्जिद की अजान
सुप्त पड़ी नाड़ियों में नहीं किया करतीं
चेतना का संचार

ये घोर निराशा का वक्त है

चुप्पियों ने असमय की है आपातकाल की घोषणा
और उम्र कर रही है गुरेज
मन के बीहड़ों से गुजरने में



ऐसे में

मन बहुत थका थका है
इस थके थके से मन पर
कौन सा फाहा रखूँ
जो सुर्खरू हो जाए उम्र मेरी

क्योंकि

जुगाली करने को जरूरी होता है दाना पानी

'आशावाद' आज के समय का सबसे दुष्कर उपालंभ है

...

अस्वीकृतियों का शहर हूँ मैं

अस्वीकृतियों का शहर हूँ मैं
फिर भी देखो
मेरी छाती पर पड़ी
अस्वीकृतियों की मनो शिलाएं
चीत्कार करना जानती ही नहीं

उद्धत रहती हैं हमेशा
स्वीकारने को एक और अस्वीकृति
शायद जानती हैं
यहाँ के बाशिंदों में नहीं बचा है पानी
मोम के पुतले हैं
तपिश से सिर्फ पिघलना जानते हैं
बहना या स्वीकारना नहीं

जंगली बिल्ली का आधिपत्य है
स्वीकार्यता के शहर में
फिर कांव कांव कर काले कौए
करते हैं उद्धोष

यहाँ जंगलराज है

जिसके नियमों में ढील बरतने का अर्थ है
मरण
और हम अभी इच्छुक नहीं मरने के
बस अमर होने तक ही है हमारी कटिबद्धता

इसलिए

अस्वीकृतियों के शहर में नहीं हुआ करतीं बरसातें
जो बसाया जा सके एक गुलाबी शहर गुलाबों का

अस्वीकृत कोई भी हो सकता है

फिर वो शहर हो
घर हो
समाज हो
राजनीतिज्ञ हो
या फिर कवि

और जन्म रहा है एक पुरुष

मर चुकी है इक स्त्री मुझमें शायद
और जन्म रहा है एक पुरुष
मेरी सोच की अतिवादी शिला पर
दस्तकों को द्वार नहीं मिल रहे
फिर भी खटखटाहट का शोर
अपनी कम्पायमान ध्वनि से प्रतिध्वनित हो रहा है

स्त्री होने के लिए जरूरी है

सर झुकाने की अदा
बिना नाजो नखरे के मशीनवत जीने का हुनर
पुरुष के रहमोकरम पर जीने ए मुस्कुराने का हुनर
और अब ये संभव नहीं दिख रहा
होने लगी है शून्य भावों से ए संवेदनाओं से



होने लगी है वक्त के मुताबिक प्रैक्टिकल
सिर्फ भावों की डोलियों में ही सवार नहीं होती अब
दुल्हन
करने लगी है वो भी प्रतिकार सब्जबागों का
गढ़ने लगी है एक नया शाहकार
लिखने लगी है एक इबारत पुरुष के बनाये शिलास्तम्भ
पर
तो मिटने लगी है उसमें से एक स्त्री कहीं ना कहीं
इसलिये नहीं होती अब उद्वेलित मौसमों के बदलने से

ध्वनि है तो जरूर पहुँचेगी कानों तक

पुरुषवादी प्रकृति की उधारी नहीं ली है
आत्मसात किया है खुद में
आगे बढ़ने और चुनौतियों को झेलने के लिये
एक अपने हौसलों के पर्वत को स्थापित करने के लिये
जिनमें अब नहीं होते उत्खनन
जिनके सपाट चौड़े सीनों पर उग सकते हैं देवदार
एचीड और कैल भी
बस स्थापत्य कला के नमूने भर हैं
स्त्री की मौत पर उसकी अस्थियाँ रोंपी हैं पर्वत की नींव
में
ताकि उगायी जा सके श्रृंखला वनस्पतियों की
जो औषधि बन कर सकें उपचार जडवादी सोच का
यूँ ही नहीं हुयी है एक स्त्री की मौत
कितने ही सरोकारों से जुडना है अभी
कितनी ही फ़ेहरिस्तों को बदलना है अभी
टांगना है एक सितारा अपने नाम का भी आसमाँ में
तभी तो स्त्री के अन्दर का शोर दफ़न हो रहा है
उगल रही है उगलदानों मे काँधों पर उठाये बोझों को
और जन्म रही है स्त्री में पुरुषवादी सोच
ले रही है आकार एक और सिंधु घाटी की सभ्यता

अब द्वार मिलें ना मिलें
दस्तक हो ना हो

